चुनाव आयोग, मतदाता और लोकतांत्रिक अनिश्चितता

कुँवर प्रांजल सिंह

अगर हर पाँच साल पर होने वाले चुनाव को प्रक्रियात्मक लोकतंत्र का प्रमाण माना जाता है, तो फिर यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि इससे लोकतंत्र की कल्पनाओं में भी परिवर्तन हुआ है। उज्ज्वल कुमार सिंह और अनुपमा रॉय की कृति *इलेक्शन कमीशन ऑफ़ इंडिया : इंस्टीट्यूशनलाइज़िंग डेमॉक्रैटिक अनसर्टेनिटीज़,* लोकतांत्रिक संस्थाओं में आये बदलावों— संस्थानीकरण, नागरिक बनने से पूर्व मतदाता बनाने की प्रक्रिया, सम्प्रभुता के मायने, कल्पना तथा लोकतंत्र के नाम पर बनाए जा रहे मतदाता संसार की पड़ताल करती है। इसके आवरण पर छपी तस्वीर मतदाता के मौलिक अधिकार यानी प्रक्रियात्मक लोकतंत्र के ज़मानतदार के रूप में उसकी स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांतों की ओर इशारा करती है। आवरण के भीतर यह किताब इन सवालों से बावस्ता होती है कि मतदाता के इस संसार में समता के मूल्यों का भरोसा देने वाली सार्वजनिक संस्थाएँ अपने प्राधिकार का किस प्रकार इस्तेमाल करती हैं।

सार्वजनिक संस्थाओं तथा लोकतंत्र में प्राधिकार को सत्ता के समानांतर रख कर देखा जाता है, क्योंकि प्राधिकार सत्ता के वैध प्रयोग से आकार ग्रहण करता है। कुछ सीमित प्रसंगों में प्राधिकार का प्रयोग ताक़त की दरकार नहीं रखता। ऐसी स्थितियों में उसे लेकर एक सहमति बना ली जाती है। शायद लोकतंत्र ऐसी ही एक सहमति का नाम है जिसमें प्राधिकार क़ानून के शासन का रूप धर कर

जनता को नियंत्रित करने का कार्य करता है।[1] पुस्तक के मुताबिक़ प्राधिकार के इस पहलू से चुनावी अधिनायकवाद का मार्ग प्रशस्त होता है।[2] यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सत्ता तथा प्राधिकारवाद की संयुक्त संरचना बहुपक्षीय चुनाव का आयोजन करती है। इस प्रक्रिया में लोकतंत्र के न्यूनतम मानकों का उल्लंघन भी लोकतांत्रिक शासन के भीतर ही घटित होता है।[3] मसलन, यह किताब अफ़ग़ानिस्तान, कम्बोडिया और थाइलैंड जैसे देशों में चुनावी जुर्म, हिंसा व मतदाताओं की प्रवंचनाओं के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दिखाती है कि लोकतांत्रिक मानकों का उल्लंघन संस्थागत तरीक़े से ही किया गया है।[4] राज्य की गतिविधियाँ इस प्रकार के उल्लंघन को आवश्यक मान कर नज़रअंदाज़ कर देती है। ऐसे में, उदारतावादी लोकतंत्र के समक्ष यह जायज़ सवाल उठ खड़ा होता है कि संख्या और जन के संबंध को लोकतंत्र की कसौटी पर किस तरह कसा जाए?

इलेक्शन कमीशन ऑफ़ इंडिया : इंस्टीट्यूशनलाइज़िंग डेमॉक्रैटिक अनसर्टेनिटीज़ **(2019)**
उज्ज्वल कुमार सिंह और अनुपमा रॉय
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली
मूल्य : रु. 926, पृष्ठ संख्या : 400

पुस्तक की प्रस्तावना इस सवाल के साथ कई और सवालों को जन्म देती है। उदाहरण के लिए भारत में चुनावी संस्थानों को नियामक की तरह देखा जाता है, जबकि उन्हें परस्परव्यापी कार्यों की एक श्रृंखला के तौर पर देखा जाना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद-324 पर ग़ौर करने पर निर्वाचन आयोग की शक्ति के स्रोत का पता चलता है। उसका आधार न्यायिक व्याख्या पर टिका है। यही इस आयोग की शक्ति का केंद्र है। वह इसी के सहारे स्वायत्तता प्राप्त करता है। निर्वाचन आयोग तथा विभिन्न राजनीतिक बंदोबस्तों के बीच प्रतिस्पर्धा का स्पेस यहीं से बनता है। समीक्ष्य पुस्तक इसी बुनियादी विरोधाभास की पड़ताल करती है। किताब के एक अहम सूत्र के अनुसार चुनाव आयोग राज्य के दायरे का हिस्सा है जो उसकी वैधता की निरंतरता हेतु सार्वजनिक संस्थान का रूप ग्रहण करता है। इसके पीछे लोकतंत्र का तर्क दिया जाता है, और चूँकि चुनावी संस्था की वैधता संविधान सभा में निहित है, इसलिए यही तर्क राज्य का तर्क बन जाता है। ज़ाहिर है कि यह सभा पहले राज्य की स्थापना करती है, फिर लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त करती है।[5] कहना न होगा कि लोकतांत्रिक कल्पना के द्वंद्व की शुरुआत यहीं से होती है।

इन्हीं बहसों और अंतर्विरोधों के मद्देनज़र इस समीक्षा को चार भागों में विभक्त किया गया है। पहले भाग में नागरिक और मतदाता की संकल्पना का विश्लेषण है। यह भाग पुस्तक की ख़ामियों से भी संबंध रखता है। दूसरे में पुस्तक की शुरुआत से लेकर आख़िर तक प्रयोग किये जाने वाले शब्द सर्टेनिटी तथा अनसर्टेनिटी के प्रयोग की शिनाख़्त की गयी है। इन शब्दों के लिए मैंने निश्चितता तथा अनिश्चितता शब्द का प्रयोग किया है। इसी भाग में, लोकतंत्र तथा चुनावी संस्थान के मध्यवर्ती स्पेस

[1] इस पूरी बहस को विस्तार से जानने के लिए देखें, थॉमस आर. वेट्स (1975) : 351-366.
[2] एंड्रियास शेड्लर (2006).
[3] उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2019) : 12.
[4] वही : 12-13.
[5] वही : 7.

को समझने का प्रयास है। समीक्षा के तीसरे भाग में इस बात को समझने की कोशिश की गयी है कि सार्वजनिक संस्थानों तथा लोकतंत्र की प्रक्रियाएँ लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा लोकलुभावनवाद को कैसे गतिशीलता प्रदान करती हैं। चौथे भाग में पुस्तक से संबंधित कुछ जिज्ञासाएँ हैं।

नागरिकता तथा मतदाता के बीच 'लोग'

पुस्तक नागरिकता, मतदाता तथा जनता को चुनाव के संदर्भ में रखते हुए नागरिक के सम्प्रभु बनने की प्रक्रिया का विश्लेषण करती है। यह प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र भारत के विच्छेद पर आधारित है। इसमें सम्प्रभु राष्ट्र की शक्तिशाली कल्पना के साथ राष्ट्र के केंद्र में राजनीतिक समुदाय और उसका लोकतांत्रिक-सार्वजनिक दायरा भी शामिल है। राजनीतिक समानता तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता इसके दो प्रमुख मूल्य माने जाते हैं। यह पुस्तक मतदाता और नागरिक के बीच कड़ी को इन्हीं कल्पनाओं और प्रक्रिया के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयत्न करती है। अनिश्चितता के संबंध में पुस्तक एक दिलचस्प बात दर्ज करती है कि भारत में मतदाता होने का ख़िताब पहले मिल जाता है, जबकि नागरिकता की कहानी इसके बाद शुरू होती है। ग़ौरतलब है कि पश्चिम के राजनीतिक सिद्धांतों में यह प्रक्रिया इसके उलट है। यानी, पश्चिम में मतदाता होना नागरिक बनने का एक लाज़िमी हिस्सा है। जहाँ तक जन की बात है तो भारत में द पीपुल को संविधान सभा के कार्यकाल में ही राज्य के प्रशासनिक ढाँचे में निहित मान लिया गया था।[6] दूसरे शब्दों में, सभा ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार को लोकप्रिय वृत्तांतों का भाग बना कर राजनीतिक कल्पनाओं को लोकतांत्रिक कल्पनाओं में तब्दील कर दिया है।[7] लेकिन, इस तब्दीली के तहत जब संविधान सभा ने मतदान के अधिकार को नागरिकता के बरअक्स रखा तो उसे लोकतंत्र के अमूर्त सिद्धांतों पर चस्पाँ कर दिया।[8]

इस बिंदु पर पुस्तक में एक ख़ामी नज़र आती है— 'द पीपुल' की अवधारणा को मतदाता तथा नागरिकता के रूप में शामिल करने का ऐतिहासिक आधार क्या है? क्या इन्हें सिर्फ़ राष्ट्रीय आंदोलन के आधार पर स्वीकार कर लिया गया जहाँ इसकी उपस्थिति केवल भीड़ के रूप में थी? इस क्रम में एक विमर्श यह भी है कि जिस समय भारत अपने संविधान और उस पर आधारित लोकतंत्र में मतदाता-नागरिक के सिद्धांत को स्वीकार करता दिखाई दे रहा था, तब तक लोकतंत्र के हिमायती और बहुतेरे विकसित देशों ने भी सार्वभौम मताधिकार का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया था। इस स्वीकृति का आधार क्या था? इसके पीछे की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियाँ क्या थीं? पुस्तक में इन बातों को लेकर गम्भीरता से विचार होना चाहिए था। मसलन, अमेरिका में संविधान की रचना के दौरान आधुनिक संविधानवाद और राष्ट्रवाद का *द पीपुल* में समाहार किया गया, और वह एकता के प्रतीक के रूप में स्थिर होता गया।[9] भारत में भी इस पद को सम्प्रभुता तथा राष्ट्र की तर्ज़ पर ग्रहण किया गया।[10] लेकिन क्या इस एकता का अर्थ वैसा ही रह गया है जैसा संविधान-निर्माण की प्रक्रिया के दौरान निश्चित किया गया था?

यह पुस्तक महिलाओं के सवाल को नये ढंग से रखते हुए बताती है कि एक मतदाता के रूप में महिलाओं की लोकतांत्रिक भागीदारी पितृसत्तात्मक समाज की अन्योन्यक्रिया पर निर्भर करती है। मसलन, 25 मार्च, 1951 में द *हिंदू* में छपी एक ख़बर का हवाला देते हुए पुस्तक में बताया गया है

---

[6] वही : 49.

[7] शनि भारत में लोकतंत्र के गठन को चुनावी प्रक्रिया तथा नौकरशाही की भूमिका के बरअक्स रखकर देखते हैं. देखें, आर्निट शनि (2018); उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2020) : 59-60.

[8] शांताल मॉफ़ी राजनीति और नैतिकता के बीच ख़त्म हुए संबंधों को पुन: स्थापित किये जाने की पक्षधर हैं.

[9] उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2020) : 60.

[10] एडमंड मॉर्गन (1989) : 263-287.

कि तत्कालीन महिला सांसदों ने प्रधानमंत्री से मुलाक़ात करके कहा कि उन्हें मतदान सूची में पत्नी, बेटी या माँ के रूप में पंजीकृत किया गया है। उन्होंने माँग की कि सूची में उनकी स्वतंत्र पहचान अंकित की जाए।[11] यह उदाहरण नागरिक और मतदाता की पहचान के अंतर्विरोध को दर्शाता है। ज़ाहिर है कि यह पहचान मतदाता, नागरिक तथा लोक के बीच नकारात्मक भूमिका निभाती है। ऐसा ही एक अन्य उदाहरण देखें : 17 दिसम्बर, 1951 में छपे एक पर्चे का शीर्षक यह दिया गया है— 'युअर राइट ऐज़ अ वोटर', लेकिन उसमें शरणार्थी के अधिकार को कहीं भी मतदान के अधिकार से जोड़ने की चेष्टा दिखाई नहीं देती।[12] यह चूक लोकतंत्र की अनिश्चितता और निश्चितता के बीच सवालिया निशान लगा देती है।

यह पुस्तक आपाधापी की बहसों के बजाय राजनीति की दुनिया में ठहराव के साथ प्रवेश करती है। वह सत्ता की रस्साकशी से हट कर नागरिकता, लोकतांत्रिक प्रक्रिया तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता के बुनियादी आयामों पर ज़ोर देती है। भारतीय राजनीति और उसकी संस्थाओं पर किये जा रहे शोध की दृष्टि से यह न केवल एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है, बल्कि लोकतंत्र और प्राधिकार के सवालों पर वह नवाचार का परिचय देती है।

निश्चितता तथा लोकतांत्रिक अनिश्चितता

पुस्तक में निश्चितता तथा अनिश्चितता की पूरी प्रक्रिया को बारीकी से समझने पर ज़ोर दिया है। यही इस पुस्तक का केंद्रीय बिंदु भी है। वह लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांत में निहित लोकप्रिय सम्प्रभुता के फ़लसफ़े पर विचार करती वह बताती है कि चुनावी शासन तथा लोकतंत्र में अनिश्चितता व निश्चितता का निर्माण राजनीतिक विश्वास के आधार पर होता है, और वह लोकतांत्रिक कल्पनाओं से गुँथ कर बना होता है।[13] निश्चितता का यह आधार ऐतिहासिक तौर पर औपनिवेशिक शासन के अंत तथा प्रक्रियात्मक उपस्थिति व राजनीतिक सहभागिता और सम्प्रभुता के साथ आगे बढ़ता है।[14] लेकिन, भारतीय राजनीति में लोकतांत्रिक कल्पनाएँ समय और परिस्थिति के साथ बदलती रही हैं।

आपातकाल को पुस्तक एक परिवर्तनकारी घटना के रूप में देखती है। इस परिवर्तन की शिनाख़्त के लिए पुस्तक में दो शब्दों— 'पक्का इरादा' और 'कड़ी मेहनत' का प्रयोग किया गया है। ये दोनों शब्द सत्तारूढ़ पार्टी कांग्रेस के सबसे कारगर जुमले थे। इस परिस्थिति में एक ओर निर्वाचन आयोग ने 'फ़ेयर ऐंड फ्री' जैसी पदावली से जनमत का विश्वास जीतने का प्रयास कर रहा था तो लोकतांत्रिक कल्पना सम्प्रभु जन से नागरिक आज़ादी की ओर बढ़ रही थी।[15] पार्थ चटर्जी के अनुसार इस समय मतदाताओं की क्षमता तथा प्रतिनिधित्व की संस्थाएँ लोकप्रिय आवाज़ के रूप में अभिव्यक्त हो रही थीं।[16] लेकिन, इस अभिव्यक्ति को आदिवासियों के संदर्भ में रख कर देखें तो लोकतंत्र नौकरशाही-तंत्र में परिवर्तित होता हुआ दिखता है। पुस्तक 2017 में आयी हिंदी फिल्म *न्यूटन* का सहारा लेकर इस पहलू का दिलचस्प खुलासा करती है।[17] यह लोकतंत्र में मतदान के मायने को भी दर्शाती है। राल्फ़ मिलिबैंड के शब्दों में कहें तो इस संदर्भ में जनतंत्र, राजनेता तथा जन के बीच एक अजीब-सी

---

[11] मोहिंदर सिंह (2015) : 27.

[12] उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2020) : 67.

[13] वही : 73.

[14] वही : 11.

[15] वही.

[16] वही : 201.

[17] पार्थ चटर्जी (2009) : 49.

अधीनता का पता चलता है जो पूँजीवाद की बृहत्तर संरचनाओं का परिणाम होती है। वास्तव में, राजनेता जनतंत्र को अपने अधीन कर लेता है। और, इसका प्रचार इस तरह किया जाता है कि जनमानस जनतांत्रिक हो चुका है। जबकि सच्चाई यह होती है कि राजनेता लोकतंत्र का मनोनुकूल इस्तेमाल कर लेता है।[18] इससे सार्वभौम मताधिकार का पूरा मंसूबा संदिग्ध हो जाता है, क्योंकि इस अधिकार के पीछे निचले तबक़ों के दिलो-दिमाग़ में यह बात बैठाने की भावना ज़्यादा प्रबल दिखाई देती है कि लोकतंत्र के निर्माण में उनकी हिस्सेदारी भी मायने रखती है। इस संबंध में जन इतिहास और संसदीय संबंधों का विश्लेषण करते हुए क्रिस हरमन कहते हैं कि इससे शासक वर्गों को पता चल गया कि मताधिकार बढ़ाते रहने से उनके अधिकारों पर कोई असर नहीं पड़ता। सत्ता पर उनका क़ब्ज़ा पूर्ववत् क़ायम रहता है, और जनमानस में यह भ्रम बना रहता है कि जनतंत्र में उनकी हिस्सेदारी महत्त्वपूर्ण होती है। जबकि हक़ीक़त यह है कि अधिकांश सत्ता संसद के नियंत्रण से बाहर रहती है। मसलन, वास्तविक सत्ता तो अनिर्वाचित सेना, पुलिस और नौकरशाही— यानी अनिर्वाचित संस्थाओं के पास होती है। ऐसी स्थिति में संसद एक ऐसी श्रेणी बन कर रह जाती है जो शासक वर्गों के ऊपर दबाव बनाने के बजाय जनाकांक्षाओं के प्रतिनिधियों की पालतू बन जाती है और अपनी माँगों में शासकों की मंशा के मुताबिक़ कतरब्योंत करने लगती है।[19] *न्यूटन* में यह दृश्य शुरू से लेकर अंत तक चलता रहता है : चुनाव अधिकारी चुनाव करने के लिए तैयार है; इलाक़े में तैनात फ़ोर्स उसे चुनाव में आने वाली समस्या— नक्सलों के डर का हवाला देती रहती है, और सामान्य आदिवासी इस पूरी प्रक्रिया में सिर्फ़ मोहरा बनते रहते हैं! और ठीक इस बिंदु पर एक अंदेशा उभरता नज़र आता है कि कहीं लोकप्रिय सम्प्रभुता के दायरे में ज़्यादा जगह लोकलुभावनवाद ने तो नहीं घेर ली है?

लोकप्रिय सम्प्रभुता और लोकलुभानवाद

यह पुस्तक चुनाव और चुनावी संस्था के ज़रिये व्यक्त होने वाली लोकतांत्रिक कल्पना को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती है। वह दर्ज करती है कि राजनीतिक समानता का भरोसा सरकार तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धांत से निकलता है।[20] लेकिन पुस्तक में एक ज़रूरी सवाल लगभग अनुपस्थित रहा है : क्या लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा जनता की सम्प्रभुता में किसी प्रकार का अंतर है? या इन्हें अदल-बदल कर प्रयोग किया जाता है? वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों के मद्देनज़र लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा लोकलुभावनवाद का विश्लेषण आवश्यक हो गया है। धीरे-धीरे हुआ यह है कि लोकतंत्र तथा उदारतावादी लोकतंत्र को एक ही परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा है। संक्षेप में कहें तो यह राजनीतिक विरोधाभास की स्थिति है। ऐसे में, हमें यह बात याद रखनी होगी कि उदारतावाद और लोकतंत्र में मूलभूत अंतर है। उदारतावादी परम्परा से यदि हमें स्वतंत्रता, सम्पत्ति, नागरिकता, नागर समाज, क़ानून का शासन तथा नुमाइंदगी जैसे पद मिलते हैं, तो लोकतंत्र से हमें बराबरी, लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा जनाकांक्षा (पीपुल्स विल)[21] जैसे पदों को विश्लेषित करने का अवसर मिलता है। मसलन, क्या लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा जनता की सम्प्रभुता में कोई अंतर है? सैद्धांतिक तौर पर लोकप्रिय सम्प्रभुता को लोकतंत्र के आधारभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। पुस्तक में इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट किया गया है कि लोकतंत्र का यह मूल्य औपनिवेशिक राज्य से हमारे संबंध-विच्छेद तथा स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया के परिणामों और चुनावी नैतिकता से गुज़र कर हम तक पहुँचा

---

[18] उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2020) : 126-128.

[19] राल्फ़ मिलिबैंड (1984) : 28.

[20] क्रिस हरमन (2009) : 337.

[21] वही : 49.

है।[22] लेकिन, मौजूदा हालात में हमें यह सवाल फिर पूछना होगा कि जनता किस प्रकार से सम्प्रभु है? या फिर वह जनता कहाँ है जो लोकप्रिय सम्प्रभुता की प्रक्रिया पर ही प्रश्नचिह्न लगा सके? इस संबंध में बैद्‌यु की यह टिप्पणी उपरोक्त सवाल को प्रखर बनाने में मदद करती है : संसदीय लोकतंत्र में लोगों की सम्प्रभुता का मतलब राज्य के अधिकार से होता है जो निर्वाचित होते ही वैधता की कल्पना से परिपूर्ण हो जाता है।[23] अगर वर्तमान राजनीति को इस नज़रिये देखा जाए तो लोकप्रिय सम्प्रभुता की जगह हमें लोकलुभावनवाद का रूप प्राप्त होता है। ग़ौर से देखें तो लोकतांत्रिक राजनीति में लोकप्रिय नेता समाज के विभिन्न समूहों की माँगों को एकसार बनाते हुए यह दावा करता है कि ऐसी तमाम माँगें इसलिए पूरी नहीं हो रहीं क्योंकि एक सशक्त अभिजन समूह बीच में आ जाता है।[24] इस तरह, जवाबदेही सरकार से हट ग़ैर-सरकारी अभिजन पर आ पड़ती है, और चुनावी साँठ-गाँठ जनता के बीच राजनीतिक अंधविश्वास क़ायम करने में सफल हो जाती है। इस मामले में 'सर्जिकल स्ट्राइक' का उदाहरण ग़ौरतलब है। इस घटना को इस तरह घर-घर पहुँचाया गया जैसे रोज़मर्रा का जीवन उसी से तय होता हो। इस घटना की प्रस्तुति एक व्यक्ति विशेष को भारत का प्रतीक बना देती है, और इसका विरोध करने वाले को राष्ट्र-विरोधी सिद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार, लोकलुभावन का तत्त्व राजनीति को कुछ इस क़दर आच्छादित कर डालता है कि जनता किसी ख़ास नेता को विकल्पहीन मानने लगती है। अंततः इसका परिणाम यह होता है कि मतदाता को जातिवाद, आर्थिक मंदी और बेरोज़गारी जैसे आधारभूत सवाल बेमानी लगने लगते हैं।[25]

लोकलुभावनवाद में यह निहित है कि वह लोकप्रिय सम्प्रभुता के लक्ष्य को ही दरकिनार करने लगता है। वर्तमान राजनीति में तो लोकलुभावनवाद निरंकुश सत्तावाद की तरफ़ बढ़ने लगा है। जनता प्रक्रिया और संस्था के प्रति असंतोष से भरने लगी है। वह बहुसंख्यकवाद को ही अपना सबलीकरण मानने लगी है। ज़ाहिर है कि इस छलावे में लोकप्रिय सम्प्रभुता का सवाल पीछे छूट जाता है, और लोकतंत्र मात्र सत्ता प्राप्ति का खेल बन जाता है।

बहरहाल, निष्कर्षतः कहें तो यह पुस्तक आपाधापी की बहसों के बजाय राजनीति की दुनिया में ठहराव के साथ प्रवेश करती है। वह सत्ता की रस्साकशी से हट कर नागरिकता, लोकतांत्रिक प्रक्रिया तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता के बुनियादी आयामों पर ज़ोर देती है। भारतीय राजनीति और उसकी संस्थाओं पर किये जा रहे शोध की दृष्टि से यह न केवल एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है, बल्कि लोकतंत्र और प्राधिकार के सवालों पर वह नवाचार का परिचय देती है। परंतु, कुछ जगहों पर स्पष्टता की कमी महसूस होती है। मसलन, पुस्तक के इकतालीसवें पृष्ठ पर 'पॉलिटिक्स अगेंस्ट डेमॉक्रेसी' जैसी पारिभाषिक पदावली का प्रयोग किया गया है, जो चुनावी व्यवस्था पर घटते भरोसे की ओर इशारा करती है। लेकिन, इस संदर्भ में यह सवाल उठता है : क्या यह पद 'स्टेट अगेंस्ट डेमोक्रेसी' के विपरीत प्रयोग किया गया है, या इसमें कोई मूलभूत अंतर है? मेरे ख़याल से पुस्तक में इस पद को स्पष्ट किया जाना चाहिए था। दूसरे, हालाँकि पुस्तक में निर्वाचन और चुनाव प्रक्रिया की निस्संदेह व्यवस्थित और क्रमबद्ध पड़ताल की गयी है, परंतु इसमें राजनीतिक दलों के तीन रूपों— जनता के बीच काम करती हुई पार्टी, सरकार का संचालन करती अथवा विपक्ष की भूमिका निभाती हुई पार्टी तथा कार्यकर्ताओं के स्तर पर काम करती पार्टी[26], जैसे पक्षों का उल्लेख छूट गया है।

---

[22] मॉफ़ी इसे विरोधाभास के रूप में देखती हैं. देखें, शांताल मॉफ़ी (2000) : 4.; अपने लेखन में आदित्य निगम भी इसी प्रस्ताव को आगे बढ़ाते हैं. देखें, आदित्य निगम (2014) : 8.

[23] उज्ज्वल कुमार सिंह एवं अनुपमा रॉय (2020) : 9.

[24] वही : 333.

[25] पार्थ चटर्जी (2019) : 69.

[26] जॉन एच. एल्ड्रिच (2009); अभय कुमार दुबे (2015) : 3 iii.

संदर्भ

आदित्य निगम (2014),'जनतंत्र और जनवाद के बीच कुछ सैद्धांतिक सवाल', *प्रतिमान : समय समाज और संस्कृति,* वर्ष 2, खण्ड 2, अंक 1, जनवरी–जून.

अभय कुमार दुबे (2015), 'आंतरिक लोकतंत्र का प्रश्न और आदर्श पार्टी की तलाश', *प्रतिमान : समय समाज और संस्कृति,* खण्ड 3, अंक 1, जनवरी–जून.

ऑर्निट शनि (2018), *हाउ इंडिया बिकेम डेमॉक्रैटिक : सिटीज़नशिप ऐंड द मेकिंग ऑफ़ द युनिवर्सल फ्रंचाइज,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

उज्ज्वल कुमार सिंह तथा अनुपमा रॉय (2020), *इलेक्शन कमीशन ऑफ़ इंडिया : इंस्टीट्यूशनलाइज़िंग डेमॉक्रैटिक अनसर्टेनिटीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एडमंड मार्गन (1989), *इंवेंटिंग द पीपुल : द राइज़ ऑफ़ पॉप्युलर सोवरेनिटी इन इंग्लैंड ऐंड अमेरिका,* नॉर्टन, न्युयार्क.

एंड्रियास शेड्लर (2006), *इलेक्टोरल ऑथोरिटेटेरियन : द डायनैमिक्स ऑफ़ अंफ्री कॉम्पटीशन,* लिन रीनर, लंदन.

क्रिस हरमन (2009), *विश्व जन का इतिहास,* (अनु.) लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, नयी दिल्ली.

जॉन एच. एल्ड्रिच (2009), 'पॉलिटिकल पार्टीज़ इन ऐंड आउट ऑफ़ लेजिस्लेचर्स', राबर्ट गुडविन (सं.) *ऑक्सफ़र्ड हैंडबुक ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

थॉमस. आर.वेट्स (1975), 'ग्राम्शी ऐंड द थियरी ऑफ़ हेजेमनी', *जर्नल ऑफ़ हिस्ट्री ऑफ़ आइडियाज़,* अंक 36, संख्या 2.

पार्थ चटर्जी (2019), *आइ ऍम द पीपुल : रिफ़्लेक्शन ऑन पॉप्युलर सोवरेनिटी टुडे,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

--------(2019), 'जनता की सम्प्रभुता और बहुसंख्यकवाद', (अनु.) नरेश गोस्वामी, *प्रतिमान : समय समाज और संस्कृति,* वर्ष 7, अंक 13.

मोहिंदर सिंह (2015), 'जनतंत्र का जन और तंत्र : कुछ सैद्धांतिक प्रश्न', *आलोचना* (विशेषांक). जनवरी–मार्च.

राल्फ़ मिलिबैंड (1984), *कैपिटलिस्ट डेमॉक्रैसी इन ब्रिटेन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

शांताल मॉफ़ी (1993), *डेमॉक्रैटिक सिटीज़नशिप ऐंड द पॉलिटिकल कम्युनिटी : द रिटर्न ऑफ़ द पॉलिटिकल,* वर्सो, लंदन.

--------- (2000), *द डेमॉक्रैटिक पैराडॉक्स,* वर्सो, लंदन.